कालोनियल सर्वेण्ट, फौजी और गांव की मिट्टी

सिविल सरवेंट्स, केंद्र और राज्य सेवा में बड़े अधिकारियों, वैज्ञानिकों, प्रोफेसर्स, बड़े पैसे वाले आर्टिस्ट, बिजनेसमैन, डॉक्टर्स और इंजीनियर्स अधिकतर ने अपने बच्चों को इंग्लैंड, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, अमरीका, फ्रांस वगैरह में दशकों पहले ही सैटल कर दिया है। खुद यहीं हैं, बीबी के साथ अकेले रहते हैं। औलाद को विदेश में सैटल तो कर दिया लेकिन मन के कोने में एक ऐसी टीस कहीं बनी रहती है जिसे ये सप्रयास छिपा कर रखते हैं। मेरे कुछ मित्र ऐसे हैं जिनके बच्चे फ़ॉरेन में सेटल्ड हैं। मुझसे पूछते हैं 'क्या आपने बच्चों को 'इंडिया' में ही रखा है या बाहर सेटल कर दिया है? एक दिन मैंने उनसे कहा कि मैं 'कालोनियल सिविल सरवेंट' नहीं हूं जिसे सालाना छुट्टी काटने के लिए बीबी और बच्चों को लेकर इंग्लैंड जाना होता है। मेरे गांव की मिट्टी ही मेरा प्राण है। मुझे पासपोर्ट की कभी जरूरत महसूस नहीं होती।

यह सब पूछने वालों से मैं सवाल करता हूं कि देश में कहीं भी उनके नाम खेती की ऐसी जमीन है जो उन्हें क़दीमी तौर से मिली हुयी है? वे इनकार करते हुये मेरी तरफ हैरानी से देखते हैं। ऐसा नहीं है कि कदीमी किसानी-खेती और पशु पालन वाली मेरी खुद की कौम में सबके नाम अब खेती की जमीन बची हुयी है। जो परिवार शहर में सैटल हो गए हैं उन्होनें अपने हिस्से की जमीन बेच कर शहर में कोई प्रॉपर्टी खरीद ली है। ऐसे गृह-परिवारों में शहर-कथा प्रथम महायुद्ध के दौर से ही ग्राम्यंचल छोड़े हुये लोगों के जीवन में प्रवेश कर गई। उक्त परिवारों के जिन बुजुर्गों ने प्रथम महायुद्ध में ब्रिटिश इंडियन आर्मी में भर्ती होकर अफ्रीका, मध्य एशिया, यूरोप और सुदूर-पूर्व में मोर्चों पर युद्ध में हिस्सा लिया और लौट कर घर भी आये तो पैसा लेकर आए। अपने ताऊजी चौधरी दरयाव सिंह की डिस्चार्ज बुक मैंने देखी तो मालूम हुआ इन्हें सन 1946 में रु. 900 एकमुश्त ग्रेचुइटी के रूप में दिये गए थे। बाहर के मुल्कों में इन जैसों को घूमने का मौका तब मिलता था जब जहाज पोर्ट पर लगता। यूरोप के लोगों की तरक्की से परिचित हुये ये लोग जब अपने देहात-संसार में लौटते तो इसे 'उज्जड' पाते। लौटे हुये इन फ़ौजियों ने देहात में बढ़िया, पक्के घर बनाने और बच्चों को दिल्ली, लाहौर, आगरा, मेरठ और लखनऊ पढ़ने के लिए भेजने से

अपने रिटायर्ड जीवन की शुरुआत की।लड़कियों को भी शिक्षा दिलाने में इनकी वजह से ही पहल हुयी थी। सर मैल्कम लायल डार्लिंग, आई.सी.एस. (पंजाब प्रोविन्स) ने सान 1930-32 में जब पंजाब का दौरा घोड़े की पीठ पर बैठ कर किया तो उसने गांवों में उन परिवर्तनों को महसूस किया जो फ़र्स्ट वर्ल्ड वार के बाद अवकाश प्राप्त फ़ौजियों की सोच की वजह से आए थे। फ़र्स्ट वर्ल्ड वार से पहले ही ब्रिटिश इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन में संभ्रांत और भद्रलोक के पुत्रों को देश में ही अंग्रेजों द्वारा खोले गए जिला और राजधानी के दफ्तरों नौकरी मिली और तभी से शहर-निवास शुरू हुआ। फ़र्स्ट वार के बाद फ़ौजियों को सूबेदार और ऑनरेरी कैप्टन का रैंक देकर छुट्टी की गई थी। कुछ रसाला और पदाती (कैवलरी और इंफेंट्री) रेजिमेंट्स को डिस्बैंड भी किया गया था। रामगढ़ (बिहार), बनारस (गोर्खा सेंटर) और बरेली (जाट सेंटर) में रेजिमेंटल ट्रेनिंग सेंटर तभी खोले गए थे।

सूबेदार साहब और कप्तान साहब तो गांव छोड़कर कहीं नहीं गए। उनकी हिम्मत ही नहीं होती थी कि अपने दादा या पिता को यह कहें कि शहर या जिला हैडक्वार्टर पर प्लॉट लेकर एक घर बनाने की इजाजत देवें ताकि इनकी औलाद शहर में रहकर पढ़-बढ़ सके। तब इनके बच्चों को या तो हॉस्टल में रहना होता था या रोजाना गांव में ही साइकिल से आना होता था। बरसात के मौसम में यह असंभव था। इसलिए अधिकतर, जैसे कि मेरे पिताजी, हॉस्टल में सन 1943-1947 तक रहे। उनका कहना था कि उन दिनों सिर्फ दस रुपया महीना में काम चलता था।

परंतु ई. सन 1914-15 से लेकर 1943 तक के बीच के समय के हालात ऐसे नहीं थे जैसे मेरे पिताजी के छात्रकाल में थे। मुझे कुछ समझ आने के बाद सन 1957 से लेकर 1965 तक के बीच के हालात मैंने तब देखे, जब हम पहली बार गांव छोड़कर शहर में रहने आए। आए जरूर, लेकिन परिवार के एक हिस्से को फिर से गांव में रहने के लिए जाना पड़ा। मां और छोटे भाई ने यह त्याग किया कि अपने तीन और बच्चों से अलग होकर रहने लगे। पिताजी शहर और गांव के बीच सालों तक कहीं लटके रहे। मां को तब शामिल किया जब छोटे की शादी हो गई और बहू ठीक से सैटल हो गई। तब यह कहने वाले लोग नहीं थे

कि गांव में क्या रखा है!

इसका मतलब यह भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि गांव छोड़कर परिवार का एक हिस्सा हालातों का मारा जब शहर आकर रहने लगे तो माना जाये कि अब ये लोग देश के वासी नहीं हैं क्योंकि गांव छोड़ दिया है और अपने गांव-देस की इस मिट्टी से इनका कुछ लेना-देना नहीं रहा! जब तक गांव में मेरे नाम जमीन है मैं गांव का ही हूं, गांव से मेरा नाता टूटा नहीं है, हमारा तो ऐसा ही सोचना बनता है। मेरे अभिन्न मित्र और आईसीएमआर में कलीग रहे डॉ विजय कुमार श्रीवास्तव बहराइच के परसोहर गांव के हैं। मालूम हुआ कि अपने हिस्से की क़दीमी रिहायशी जमीन में अभी एक घर बना कर नोएडा लौट आए हैं। कहा कि गांव में मेरा घर होना चाहिए तभी तो में गांव में अधिकार से जा सकता हूं। इन्हें अपने गांव-खेत से बड़ा लगाव है।

हरयाणा में अपने रिठाल गांव के खेत और इनके नाम, पेड़, जोहड़, कुएं, हवेलियां, दरवाजों में सुबह-शाम के वक़्त हुक्के पर मर्दों की बैठक, कुओं से पानी लाने जाती हुयी छोरियां, बहुयें, खेत में जाते हाली, पशुओं के चौणे के पीछे, कंधे पर लट्ठ उठाकर जाते पाली, नहर में बहता जमुना का पानी, जोहड़ में उछल-कूद करते या जल-क्रीड़ा करते किशोर और छोटी लड़कियां, जोहड़ में किनारे पर बैठकर कपड़े धोती हुयी महिलाएं और एक तरफ हटकर नहाते हुये मर्द लोग वगैरह मेरी पीढ़ी के बुढ़ाते हुये लोगों को तो याद हैं, लेकिन नई पीढ़ी इनसे परिचित भी नहीं!

हरयाणा में बुज़ुर्ग अकसर कहते हैं कि 'तेरे नाम एक खूड नहीं' तो तू गांव-हिंदुस्तान का कैसे हो गया? खेती की जमीन बेचना मां को बेचने जैसा माना जाता है ! देखते-देखते सब मूल्य कैसे ढह गए, मालूम ही नहीं हुआ। स्वार्थ और खुद को जिंदा रखना ही सर्वोपरि हो गया है! देस की जमीन अब एक 'प्रॉपर्टी' मात्र है! मैंने गांव के लोगों को कहते सुना है कि काश इनके यहां से भी हाइवे निकल जाता तो पैसे मिल जाते। शहर के निकट होता तो अर्बन डेवलपमेंट अथॉरिटी जमीन का अधिग्रहण कर लेती। इनका मानना है कि जमीन बहुत पैसे दिलवाती है जब बिके, लेकिन नहीं बिके तो पसीना निकलवाती है, गरीबी लाती है

और नुकसान करती है! सही भी है क्योंकि किनशिप अर्थात भाईचारा बहुत कम बचा है। देश में कमर्शियलिज़्म की ऐसी लहर आएगी मैंने सोचा नहीं था! 'पब्लिक इंटरेस्ट' में अधिग्रहित की जा सकने वाली जमीन से कितने मनुष्यों और पालतू पशुओं के जीवन की डोर बंधी है, यह कमर्शियल बुद्धि सोचने नहीं देती। इस मानसिकता से ऊपर उठकर यह देखना जरूरी है कि यह सिर्फ खाली या खेती की जमीन ही नहीं है बल्कि यह पानी के स्रोत, पेड़-पौधे, वन, कीड़े-मकौड़े, सरिसर्प, छोटे वन्यजीव और पक्षी सभी के जीवन से जुड़ी हुयी है। जब गांव पर संकट है तो शहर पर भी संकट है और देशज सोच पर भी इसका असर दीर्घकाल में दिखाई देता है। ऐसे में कंक्रीट के इस जंगल में मानुषों के अलावा सिर्फ कौव्वे और कुत्ते नज़र आएंगे। पहले का सौन्दर्य से भरपूर इलाका तब सुनसान बेशक रहा हो लेकिन वीरान तो नहीं!

अब वीराने मंज़र की शहर-कथा में मां-बाप, दादा-दादी सब लुप्त हो जाते हैं और जो बचा है वह है औलाद से बिजनेस-सरीखे रिश्ते। मां-बाप और दादा-दादी को अगर पेंशन मिलती है तब भी उनकी अवमानना होते मैंने देखी है जबकि अधिकतर धनराशि को वे अपने बच्चों और पोते-पोतियों पर ही खर्चते हैं। एकल परिवारों में बच्चों के जवान हो जाने के बाद रंज और रोष पनपते हुये आए दिन हम देखते हैं। कुछेक परिवार तो ऐसे हो गए हैं जहां रिश्तों में अत्याधिक घृणा दिखती है। मां-बाप किसी भी सूरत में बेटे-बहू और पोते-पोती से संस्कारवश घृणा नहीं करेंगे लेकिन इसका उलट मैंने होते देखा है। कैसे जीएंगे लोग?

जैसा हुआ है उसे देखकर लगता है मुझ जैसे व्यक्ति जीवन में असफल और अभावग्रस्त हैं! यह फीलिंग क्यों है? मेरे बच्चे विदेश नहीं गए। मेरे पास इतना रुपया नहीं था कि कोई ऐसा जुगाड़ हो पाता कि वे भी कनाडा या इंग्लैंड भेज दिये जाते। 'चाहे मेरा और पत्नी का बुढ़ापा उपेक्षित भले हो जाये, लेकिन लड़कियों के पति विदेश में रहते हों और ग्रीन कार्ड होल्डर हों, लड़के भी विदेश में कहीं अच्छा जॉब करते हों', ऐसी सोच और मान्यता लेकर जीने वाले एकांतजीवी मां-बाप की संख्या अब बहुत है। रिश्तों में पाप-और पुण्य की अवधारणा जो महाभारत, रामचरितमानस, भागवत और पुराणों से निकल कर

भारतीय नारी-समाज की मन-गंगा और रक्त वाहिकाओं में बह रही है, उसे भला कौन क्षीण कर सकता है। एक दिन कोई कह उठा भारत के ज्ञान ग्रन्थों, पुराणों, प्राचीन कथा साहित्य और दर्शन में क्या है? मैंने कहा इनमें वे संस्कार हैं जो हमें मनुष्य धर्म सिखा कर राक्षस नहीं बानने देते। भारत के बच्चों को यही समझना चाहिए, चाहे वे रोबोटिक्स में काम करते हों, आर्टिफ़िशियल इंटेलिजेंस में या मोलिक्युलर बायलौजी में।